यू.पी.ए. सरकार की अघोषित नयी शिक्षा नीति

शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक पदानुक्रम को पैठाने और निजी मुनाफ़े को बढ़ाने को समर्पित

● अभिनव

पिछले दो-तीन वर्षों में यू.पी.ए. सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में कई नीतिगत बदलाव किये हैं। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग की सिफारिशों के बाद, यशपाल समिति की सिफारिशें, शिक्षा का अधिकार अधिनियम और उच्च शिक्षा बिल 2009 इन्हीं नीतिगत परिवर्तनों की ओर इशारा करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों को मनमोहन सरकार ने बहुत ही शातिराना तरीक़े से लागू करना शुरू किया है। यह पूरी प्रक्रिया कुछ इस तरह से चलायी गयी है कि सरकार की तमाम नयी शिक्षा नीतियाँ शिक्षाविदों को काफी जनपक्षधर नज़र आ रही हैं। ताज्जुब की बात है कि ये शिक्षाशास्त्री इन नीतियों का ढंग से अध्ययन भी नहीं करते और महज़ बाजारू कारपोरेट मीडिया की कही-सुनी पर विश्वास करते हुए मनमोहन सरकार को कल्याणकारी राज्य की भूमिका अदा करने के लिए धन्यवाद ज्ञापन करते नज़र आते हैं। मनमोहन सरकार को और उसके मानव संसाधन मन्त्री कपिल सिब्बल के जिस क़दम के हाल में मीडिया ने सिर-आंखों पर बिठा लिया, वह है 'शिक्षा का अधिकार' अधिनियम 2009। इसके तहत 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए पड़ोस के सरकारी स्कूल में शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया। लेकिन इस अधिनियम की बारीकियों का विश्लेषण हमें बाज़ारू मीडिया में नहीं मिला। मिला तो बस कपिल सिब्बल और मनमोहन सरकार का यशगान! इस क़दम को ऐतिहासिक बताया गया! आज़ाद भारत के इतिहास में इसे एक मील का पत्थर करार दिया गया! यशपाल समिति की सिफारिशों और उच्च शिक्षा बिल 2009 के आने तक तो मीडिया सरकार के यशगान की कीर्तन मण्डली में तब्दील हो चुका था। खाता-पीता मध्यवर्ग कपिल सिब्बल में एक प्रबुद्ध प्रशासक को देख रहा है और उनके द्वारा लाए जाने वाले परिवर्तनों को युग-प्रवर्तनकारी मान रहा है। क्यों न माने? उनके लिए ही तो कपिल सिब्बल ने ये क्रान्तिकारी क़दम उठाए हैं! सबसे अहम बात यह है कि आम समझदारी और विशेषज्ञ समझदारी, दोनों में ही इन नयी नीतियों द्वारा लाए जाने वाले सारभूत परिवर्तनों को नहीं समझा गया है। ये नीतियाँ अपने आप में उतना बड़ा परिवर्तन लाने वाली हैं जितना बड़ा परिवर्तन राजीव गांधी की नयी शिक्षा नीति, 1986 से आया था। शिक्षा क्षेत्र में ये परिवर्तन भारत के आज के पूँजीवाद की ज़रूरतों के मुताबिक शिक्षा को ढालने का काम करने वाले हैं। दूसरी बात यह कि इस काम को ये नीतियाँ ऐसे अंजाम देंगी मानो कि वे जनता के पक्ष में किये जाने वाले काम हों। यानी, नाम जनता का और काम पूँजीपतियों और कारपोरेट घरानों का! इस बात को बारीकी से समझने के लिए इन नीतियों की एक-एक करके समीक्षा ज़रूरी है।

सबसे पहले शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009, क्योंकि इसी को लेकर मीडिया से लेकर अज्ञानी मध्यवर्ग में आनन्दातिरेक की लहर है। यह अधिनियम 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए पड़ोस के सरकारी स्कूलों में निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करता है। यह सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन निर्णय का हवाला देते हुए उसे लागू करने की बात करता है। यह कोरी लफ़्फ़ाज़ी है। उन्नीकृष्णन निर्णय ने कहा था कि 14 वर्ष तक के बच्चों के निशुल्क शिक्षा की जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए। यदि अधिनियम 0 से 6 वर्ष के बच्चों को इस अधिकार के दायरे में शामिल नहीं करता है तो स्पष्ट है कि 70 प्रतिशत ऐसे बच्चों को इस अधिनियम से कोई लाभ नहीं मिलने वाला जो स्कूल नहीं जा पाते हैं। ज्ञात हो कि भारत में 7 करोड़ बच्चे स्कूल नहीं जा पाते हैं। इस संख्या का सत्तर प्रतिशत यानी क़रीब 4.9 करोड़ बच्चे। अगर वयस्कता से पहले इंसान को बच्चा माना जाय तो 15.7 करोड़ बच्चे इस अधिनियम के कवरेज एरिया से बाहर हैं। दुनिया भर के शिक्षाविद मानते हैं कि 0 से 6 वर्ष के उम्र में ही बच्चों के मनोविज्ञान का बुनियादी निर्माण होता है। इसके बावजूद इस अधिनियम द्वारा 0 से 6 वर्ष के बच्चों के स्कूली शिक्षा के अधिकार को शामिल न किया जाना कई सवाल उठाता है।

दूसरी बात यह है कि यदि यह अधिनियम मात्र 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए ही शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकार मानता है तो इसका अर्थ हुआ कि सरकार 8वीं तक ही बच्चों के शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकार मानती है। शिक्षा महज़ अपना नाम लिखना सीखने और जोड़-घटाना व गुणा-भाग सीखने के लिए नहीं होती।

यह एक नागरिक को लाभपूर्ण रोज़गार (गेनफुल एम्प्लॉयमेण्ट) के योग्य बनाने के लिए होती है। सरकार के ही मापदण्डों के अनुसार 8वीं तक की शिक्षा लाभपूर्ण रोज़गार प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह बात आसानी से समझी जा सकती है जब देश में स्नातक-स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ लिए नौजवान करोड़ों की संख्या में बेरोज़गार घूम रहे हों!

तीसरी बात-इस अधिनियम के बाद बच्चों को निशुल्क शिक्षा पड़ोस के स्कूल में मिल सके इसके लिए सरकार ने सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था में निवेश को बढ़ाया नहीं है। बल्कि उसने यह किया है कि निजी स्कूलों में ग़रीब बच्चों के लिए 25 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान कर दिया है। इस पर तमाम निजी स्कूलों ने विरोध किया है। जाहिर है कि अमीरजादों के बच्चों को ''विश्वस्तरीय और कुलीन शिक्षा'' देने के लिए बनाए गए इन स्कूलों में अगर ग़रीबों के बच्चों का दाखिला होगा तो इन निजी स्कूलों को आपत्ति तो होगी ही! इसके अतिरिक्त, ग़रीब बच्चों के लिए 25 प्रतिशत आरक्षण का यह नियम किसी भी सूरत में लागू नहीं हो सकता है, यह आसानी से समझा जा सकता है। स्कूली शिक्षा में निजी स्कूलों के व्यवसाय की कुल कीमत इस समय 160,000 करोड़ रुपये है। इस मुनाफे के पूरे ढाँचे को सरकार किसी भी रूप में छेड़ने वाली नहीं है। स्कूली शिक्षा में पब्लिक-प्राईवेट पार्टनरशिप के जुमले के तहत स्कूली शिक्षा के ग़रीब बच्चों के अधिकार को सुनिश्चित करने की बात महज एक शोशा है।

चौथी और सबसे अहम बात – जब तक पूरे देश में एक साझा स्कूल व्यवस्था (कॉमन स्कूल सिस्टम) लागू नहीं किया जाता, तब तक शिक्षा के अधिकार जैसे किसी भी अधिनियम का कोई अर्थ नहीं है। यह समाज में मौजूद ऊँच-नीच को और गहराई से स्कूली शिक्षा की व्यवस्था में पैठा देगा। ऐसा कोई भी अधिनियम अगर शिक्षा व्यवस्था में एकसमान गुणवत्ता को स्थापित नहीं करता है तो क्या लाभ? ग़रीबों को घटिया और अमीरों को बढ़िया शिक्षा! बस यही होगा। अभी हाल ही में कुछ स्वयंसेवी संगठनों ने सरकार से पूछा कि स्कूली शिक्षा में प्रति विद्यार्थी सरकार कितना ख़र्च करती है। इस पर सरकार ने माना कि उसके पास कोई ऐसा आंकड़ा नहीं है और विभिन्न प्रकार के सरकारी स्कूल होने के कारण इसका आकलन करना ही लगभग असम्भव है। साफ़ है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि आप किस वर्ग से आते हैं। सरकारी स्कूलों में शिक्षा के पदानुक्रम को साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। इस पदानुक्रम में सबसे ऊपर हैं केन्द्रीय विद्यालय, जिनमें प्रति छात्र खर्च क़रीब 12,000 रुपये प्रति वर्ष होता है। इसके बाद आते हैं नवोदय विद्यालय, जिनमें यह खर्च क़रीब 15,000 रुपये प्रति वर्ष होता है, लेकिन प्रतिष्ठा के मामले में वे केन्द्रीय विद्यालय से पीछे हैं। इसके बाद सैनिक स्कूल आते हैं। और फिर इसके नीचे निहायत खराब गुणवत्ता वाले नगर निगम के विद्यालय आते हैं जिनमें प्रति छात्र प्रति वर्ष खर्च 1800 से 2500 रुपये के बीच होता है। यह पदानुक्रम संविधान की धारा 14, 21 और 21ए का उल्लंघन है जो समान शिक्षा को बच्चों का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित करती है। पैसे के बल पर शिक्षा की अलग-अलग गुणवत्ताओं की उपलब्धता सीधे-सीधे पूँजीवादी समाज और व्यवस्था की नंगई को उघाड़कर रख देती है। इस समाज में शिक्षा, कौशल और योग्यता, सबकुछ बिकाऊ है। ऐसे में जाहिर है कि अपवादों को छोड़ दिया जाय तो अमीरों के बच्चे अधिक सक्षम बनेंगे और ग़रीबों के बच्चे अक्षम। लेकिन अपने ही बनाए नियमों और क़ानूनों के उल्लंघन में भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था माहिर हो चुकी है। 62 साल का गहरा अनुभव है उसके पास कि किस तरह सारी सामाजिक समानता और न्याय को संविधान और क़ानून की किताबों के पन्नों तक सीमित कर दिया जाय और वास्तव में चलाई जाय एक ऐसी व्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधनों, सारी भौतिक सम्पदा समेत सारी मानसिक और बौद्धिक सम्पदा पर भी अमीरजादों की औलादों की बपौती हो। यही इस पूँजीवादी जनतंत्र की हकीकत है। गलती से इसी बात को कपिल सिब्बल बोल भी गये जो राजनीतिक पैदाइश के समय से ही पूँजीवादी घरानों और कारपोरेटों की गोद में बैठे हुए हैं। कपिल सिब्बल ने मानव संसाधन मन्त्री बनने के बाद कहा, 'शिक्षा एक माल है और मैं तो यहां इसलिए हूँ कि इसे और अधिक कंज्यूमर फ्रेण्डली बना सकूँ।' बताने की ज़रूरत नहीं है कि इस व्यवस्था की निगाह में कंज्यूमर कौन है। यह अकारण नहीं है कि नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से ही कारों, फ्रिजों, मोबाइलों, मोटरसाईकिलों, कम्प्यूटरों आदि की कीमत में गिरावट आ रही है जबकि आटा, तेल, नून, दाल, चावल, चीनी आदि की कीमतों में बढ़ोत्तरी। ग़रीबों की ज़रूरत का हर सामान महँगा हो रहा है जबकि अमीरों के ऐशो-आराम का हर सामान सस्ता। यह है वह कंज्यूमर सॉवरैनिटी (उपभोक्ता की सम्प्रभुता) जिसका गुण सारे ऐसे अर्थशास्त्री गाते हैं जो पूँजीपतियों के फेंके हुए टुकड़ों पर पलते हैं! ग़रीब सम्प्रभु तो क्या व्यवहार में पूर्ण नागरिक भी नहीं बन पाते। यही कारण है कि उनके स्कूलों को कस्बों-गलियों में सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है और अमीरों के स्कूलों को सरकार हर प्रकार की फण्डिंग और सुविधाएँ प्रदान करती है।

सरकार ने ग़रीब बच्चों के लिए एक सर्व शिक्षा अभियान भी शुरू किया था। उसके लिए जारी होने वाला करोड़ों रुपये का फण्ड भ्रष्टाचार का निवाला बन जाता है। जो नीचे तक पहुच पाता है उसका भी ढंग से इस्तेमाल नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त, इस योजना के लिए दिया जाने वाला फंड पिछले तीन वित्तीय वर्षों से लगातार घटाया जा रहा है। वर्ष 2007-08 में 12,020 करोड़ रुपये इस अभियान के लिए आए। 2008-09 में यह आँकड़ा 11,940 करोड़ रुपये रह गया और मौजूदा वित्तीय वर्ष में इसके लिए सरकार ने महज 11,934 करोड़ रुपये दिये हैं। साफ़ है कि स्कूली

शिक्षा को उच्च शिक्षा पर प्राथमिकता देने का ढिंढोरा पीटते हुए सरकार उच्च शिक्षा में से तेज़ी से विनिवेश कर रही है और विनिवेश किये पैसे को भी स्कूली शिक्षा में नहीं लगा रही है।

स्कूली शिक्षा में चल रहे इस कल्याणकारी पाखण्ड की असलियत जानने के बाद आइये यशपाल समिति के सुझावों और उच्च शिक्षा बिल 2009 का भी पोस्टमॉर्टम कर लें।

प्रो. यशपाल भारत के अग्रणी वैज्ञानिक और शिक्षाविद हैं। वे अपने मानवतावादी, तर्कसंगत और जनवादी रुझानों के लिए जाने जाते हैं। उनके नेतृत्व में सरकार ने उच्च शिक्षा की स्थिति की समीक्षा के लिए एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट हाल ही में सरकार को सौंप दी। सरकार ने इस रिपोर्ट के उन सुझावों को स्वीकार कर लिया जो उसके उदारीकरण और निजीकरण के कार्यक्रम से मेल खाते हैं। यशपाल समिति का कई तथाकथित वामपंथी संगठन बिना जाने-समझे विरोध कर रहे हैं मानो कि प्रो. यशपाल कपिल सिब्बल के खासम-खास हों। यह नज़रिया गलत है। यशपाल समिति ने कई सुझाव दिये हैं जिनका कि स्वागत किया जाना चाहिए। जैसे इस समिति का कहना है कि डीम्ड विश्वविद्यालय के नाम पर उच्च शिक्षा में निजी व्यवसाय की जो चार सौ बीसी चल रही है उसे बन्द कर दिया जाना चाहिए और ऐसे सभी विश्वविद्यालयों की मान्यता को रद्द कर दिया जाना चाहिए। समिति अपनी रिपोर्ट में इस स्थिति की निन्दा करती है कि जिसे मन करता है वह धन्धा चलाने के लिए एक विश्वविद्यालय खोलकर बैठ जाता है, मानो वह कोई पंसारी की दुकान हो। इस सुझाव के आने के बाद सरकार ने कई ऐसे विश्वविद्यालयों की मान्यता को रद्द किया भी, क्योंकि उसे भी खेल के नियमों का इतना पालन तो करना ही है कि जनता का खेल से विश्वास ही न उठ जाए। दूसरी बात यह कि इन तथाकथित विश्वविद्यालयों के भ्रष्टाचार और उनके द्वारा छात्रें का पैसा लेकर भागने जैसी घटनाओं के खिलाफ आम रोष भी काफी था। इसलिए भी सरकार ने इस बाबत क़दम उठाया।

लेकिन यशपाल समिति ने सरकारी संस्थाओं की अक्षमता और असफलता का इलाज बताते हुए बात को दूसरे छोर पर ही पहुँचा दिया। यशपाल समिति के अनुसार पारंपरिक शिक्षा के लिए यू.जी.सी. और तकनीकी शिक्षा के लिए ऐक्टे की प्रासंगिकता खत्म हो गई है। दूसरी बात यह कि सरकार के मन्त्रलयों के अन्तर्गत रहने के कारण ये संस्थाएँ राजनीति का शिकार हो जाती हैं जिसका प्रभाव उच्च शिक्षा पर पड़ता है। इसके इलाज के तौर पर सही राजनीति को स्थापित करने और उस पर आम जनता के सच्चे प्रतिनिधियों की निगरानी की किसी व्यवस्था को लागू करने की बजाय यशपाल समिति विराजनीतिकरण की राजनीति का अनजाने ही सहारा लेती है। वह कहती है कि यू.जी.सी. और ऐक्टे को भंग करके पूरी उच्च शिक्षा के विनियमन और नियंत्रण लिए एक स्वायत्त संस्था का गठन किया जाय जो सरकार के किसी भी मन्त्रलय के अधीन न हो। इसके सात सदस्य हों जिनमें से कुछ भारतीय उद्योग जगत के जाने-माने लोग हों, क्योंकि वे ही गुणवत्ता को निर्धारित कर सकते हैं। यही संस्था उच्च शिक्षण संस्थानों के वित्त पोषण से लेकर पाठ्यक्रम निर्धारण तक का काम करे और कोई भी अन्य सरकार या गैर-सरकारी संस्था इसमें कोई हस्तक्षेप न कर सके। साफ़ है कि अगर ऐसी कोई संस्था अस्तित्व में आती है तो वह पूरी उच्च शिक्षा को कारपोरेट हितों के अनुसार ढालने का काम करेगी। यह एक गैर-जनवादी क़दम होगा क्योंकि ऐसी संस्था की किसी भी जनप्रातिनिधिक निकाय के समक्ष कोई जवाबदेही नहीं होगी। ऐसी कोई संस्था अगर कारपोरेट घरानों के हाथ बिक जाती है तो कोई कुछ नहीं कर सकेगा। जब तक कोई नया अधिनियम पास होकर इस प्रक्रिया को रोकेगा तब तक यह संस्था उच्च शिक्षा संस्थानों में कई पीढ़ियों को पूँजीपति घरानों का "बोलने वाला उपकरण" बना चुकी होगी! इसलिए प्रो.यशपाल की समझदारी यहां ढीली पड़ जाती है। इरादतन या गैर-इरादतन, यह बहस का मुद्दा ही नहीं है। एक अराजनीतिक वैज्ञानिक से हम और कोई उम्मीद नहीं कर सकते जो 'परफेक्ट बुर्जुआ राज्य' में यकीन करता है। अराजनीतिक बुद्धिजीवी अक्सर अनजाने में प्रबुद्ध निरंकुशता के पक्ष में खड़े हो जाते हैं।

इसके अलावा यशपाल समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत में विदेशी विश्वविद्यालयों की आवश्यकता नहीं है लेकिन विदेशों से अच्छे शिक्षकों की आवश्यकता है। यह अपने आप में मजाकिया बात है। जिस देश में पढ़ाने की योग्यता रखने वाले शिक्षक शोध की डिग्रियाँ लेकर बेरोज़गार घूम रहे हों, वहाँ विदेशों से शिक्षकों का आयात करने का क्या मतलब है? यह एक दीगर बात है कि इसी देश की शिक्षा व्यवस्था के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित शिक्षक वही शिक्षा आने वाली पीढ़ियों को भी देगा जो उसे मिली है। लेकिन विदेशी शिक्षकों की गुणवत्ता भी कोई प्रश्नों के दायरे से बाहर नहीं है। यह यशपाल समिति के अपने औपनिवेशिक मानसिकता से पैदा होने वाले पूर्वाग्रह हैं कि वह देशी शिक्षकों को हीन मानती है और विदेशी शिक्षकों को श्रेष्ठ। यशपाल समिति की ये दो सिफारिशें हैं जो दिक्कततलब हैं और जिनका विरोध किया जाना चाहिए।

यशपाल समिति के आने के बाद कपिल सिब्बल के निर्देशन में एक उच्च शिक्षा बिल 2009 पेश किया गया। यह बिल शिक्षा को बाज़ारू माल बनाने के कार्य को कुशलता से आगे बढ़ाने की बात करता है। इस बिल के मुताबिक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की इजाज़त दे दी जाएगी। यानी विदेशी विश्वविद्यालय अपने कैम्पस भारत में खोल सकेंगे। ज़ाहिर है कि इस शिक्षा की कीमत देश के मुट्ठी भर धनाढ्य ही चुका पायेंगे और कैम्पसों का और अधिक कुलीनीकरण होगा। देशी विश्वविद्यालय भी इन विश्वविद्यालयों से प्रतिस्पर्द्धा में आम घरों के बेटे-बेटियों की पहुँच से और अधिक

(पेज 27 पर जारी)

बच्चों के लिए विटामिन 'ए' युक्त पूरक आहार ज़रूरी है?'' ध्यान देने की ज़रूरत है कि कुछ वर्ष पूर्व ऐसे ही नमक में आयोडीन की अनिवार्यता की वकालत की गई थी। नमक में आयोडिन की अनिवार्यता के लिए कम्पनियों ने पूरा दबाव बनाया और सरकार को इस दबाव में क़ानून भी बदलना पड़ा। उल्लेखनीय है कि सरकारी क़ानूनों की आड़ में आयोडिन युक्त नमक की अनिवार्यता आम नागरिकों पर थोप कर इस देश में कई बीमारियों के लिए रास्ता खोल दिया गया है।

नमक में आयोडिन की अनिवार्यता को थोपने के मामले की पड़ताल करने से इस आशंका की पुष्टि हो जाती है कि देर सबेर चावल में विटामिन ए अथवा आटे में ल्योहा तथा अन्य सूक्ष्म पोषक तत्त्वों को दैनिक उपयोग के अनाजों में मिलाकर फोर्टीफाइड फूड के रूप में बाज़ार में उतारा जा सकता है। केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय के विश्वस्त सूत्रों के हवाले से इस लेखक को खबर है कि मन्त्रालय में आयोडाइज्ड नमक को डबल फ़ोर्टीफ़ाइड (उसमें लोहा मिलाने) की एक महत्वाकांक्षी योजना लम्बित है जिसमें सम्बन्धित कम्पनी ने सर्वेक्षण के आधार पर यह भी दावा किया है कि लोगों को यदि ठीक से शिक्षित किया जाए तो लोग मौजूदा दर से दो गुनी क़ीमत पर भी 'डबल फ़ोर्टीफ़ाइड नमक' लेने को तैयार हैं।

चिन्ता की बात तो यह है कि कम्पनियों और बाज़ार के गठजोड़ ने हमारी प्राकृतिक खाद्य व्यवस्था को खत्म कर देने की योजना बना ली है और हम उसके जाल में फँस चुके हैं। कई पोषक तत्त्व तो खाद्य में कृत्रिम रूप से डाले ही नहीं जा सकते। जैसे-जिंक। हमारे शरीर में जिंक की कमी को प्राकृतिक खाद्य पदार्थों के सेवन से ही पूरा किया जा सकता है। इसके लिए जैविक खेती को बढ़ावा देने की ज़रूरत है। क्योंकि रासायनिक कीटनाशकों के उपयोग से ज़मीन में उपलब्ध सूक्ष्म पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और हमारे शरीर को प्राकृतिक रूप से पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता। यह विडम्बना ही है कि पहले पोषण के प्राकृतिक तरीक़े को हम नष्ट कर दें और फिर पोषण के लिए बाज़ार की तथाकथित तकनीक पर निर्भर हो जायें।

भारत में तेज़ी से विकसित होते खाद्य बाज़ार और इसके पीछे लगी बड़ी कम्पनियों की सफलता अभी से देखी जा सकती है। आम जनता के स्तर पर ऐसी योजना में जानकारी के अभाव में लोगों को कोई साज़िश नज़र नहीं आती। कम्पनियाँ भी मध्यम वर्ग के लोगों को प्रभावित करना अच्छी तरह जानती हैं। इस कार्य में क्रिकेट स्टार धोनी, हरभजन, युवराज या सिने स्टार आमिर, शाहरुख या सलमान या कोई और सेलेब्रिटी अच्छी तरह इस्तेमाल होते हैं। नमक में आयोडीन की अनिवार्यता को सरकारी क़ानूनों ने जितना प्रभावी नहीं बनाया उतना विज्ञापन और प्रचार ने। वैसे भी गेन जैसी संस्था की स्थापना बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बाज़ार निर्माण करने के लिए ही की गई है। गेन इन कम्पनियों के बाज़ार बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों में खाद्य और पोषण क़ानूनों को अपने अनुकूल बनवाने के लिए भी प्रयासरत है। भारतीय सांसदों के बीच गेन ने एक बैठक आयोजित कर उन्हें फोर्टीफाइड फूड के फायदे बताए। इसका असर भी रंग लाने लगा है। सांसद सचिन पायलट विटामिन ए युक्त कृत्रिम पोषक आहार के प्रबल समर्थक बन गए हैं। पिछले संसद सत्र में वे इसकी ज़ोरदार वक़ालत भी कर चुके हैं।

गेन कुपोषण की समस्या का समाधन बाज़ार में तलाशता है। गेन का उद्देश्य भारत में पोषक आहार के लिए एक अरब लोगों का बाज़ार निर्मित करना है। गेन ने अभी-अभी हैदराबाद में ही ब्रिटानिया नामक कम्पनी को एक लाख बच्चों तक अपना कथित पोषक उत्पाद पहुँचाने का मौक़ा उपलब्ध कराया है। इस प्रकार कुपोषण के इस बाज़ार में बड़ी कम्पनियों को बड़े बाज़ार बनाने के व्यापक अवसर उपलब्ध हो रहे हैं। इस झटपट समाधान की आपाधापी में भूख और कुपोषण के मूल सवाल दब गये हैं। इन सवालों का फ़ास्ट-फूड स्टाइल वाला जवाब स्थाई समाधान दे नहीं सकता क्योंकि भूख महज़ एक समस्या नहीं साम्राज्यवाद की मुक़म्मल नीति है। जब तक नीति पर चोट नहीं होगी भूख का बाज़ार फलता-फूलता रहेगा।

(लेखक जन स्वास्थ्य वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त होमियोपैथिक चिकित्सक हैं)

यू.पी.ए. सरकार की अघोषित नयी शिक्षा नीति

(पेज 23 से आगे)

बाहर होते जायेंगे। इसके अतिरिक्त, एक और ख़तरनाक क़दम जिसकी बात यह बिल करता है वह यह है कि हर विश्वविद्यालय अपना पाठ्यक्रम स्वयं तय करने की आज़ादी रखेगा। यानी कोई सामान्य पाठ्यक्रम की व्यवस्था नहीं होगी और कोई भी समझ सकता है कि कालान्तर में पाठ्यक्रम के मामले में भी वर्ग पदानुक्रम की व्यवस्था स्थापित हो जाएगी। ये सारे क़दम उच्च शिक्षा को आम जनता की पहुँच से और अधिक दूर पहुँचा देंगे।

साफ़ है कि यू.पी.ए. सरकार प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा, दोनों में ही जो सुधार कर रही है, वह पूँजीपति वर्ग और भारत और वैश्विक पूँजीवाद की ज़रूरतों के मद्देनज़र कर रही है। एक ओर तो उसे कुशल और पढ़ी-लिखी श्रम शक्ति की ज़रूरत है। इसलिए प्राथमिक शिक्षा, चाहे वह किसी भी गुणवत्ता की हो, की पहुँच को थोड़ा और विस्तारित किया जा रहा है। विश्वविद्यालयों की शिक्षा को महँगा बनाकर आई.टी.आई. और पॉलीटेक्निक अधिक संख्या में खोले जा रहे हैं। उच्च शिक्षा के परिसरों को अमीरज़ादों की बपौती बनाया जा रहा है। यह है भारतीय पूँजीपति वर्ग की नयी शिक्षा नीति का सार।